

जैन धर्म में सामाजिक चेतना

रमेश कुमार¹

¹एसोसियेट प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग विभाग, श्री म रा दा स्ना महा भुङ्कुड़ा, गाजीपुर, उ०प्र०, भारत

पूर्वपीठिका

भारत में धर्म का सामाजिक सरोकार सर्वविदित है। धर्म के माध्यम से सामाजिक सौहार्द, सामाजिक सहिष्णुता तथा सामाजिक मूल्यों के प्रतिस्थापना का निरंतर प्रयास होता रहा है। परन्तु यदि निवर्तक धारा के समर्थक जैन धर्म की ओर दृष्टिपात किया जाय तो इनमें समाज की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्ति प्रधान दर्शन व्यक्तिपरक और प्रवृत्ति प्रधान दर्शन समाजपरक होते हैं। जैन धर्म में सामाजिक भावना से परांगमुखता नहीं दिखाई देती है। सम्भवतः यह दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांगी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्ति सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए। प्रस्तुत शोधपत्र में जैन धर्म का इसी परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया गया है।

यदि निवर्तक धारा के समर्थक जैन धर्म की ओर दृष्टिपात किया जाय तो इनमें समाज की उपेक्षा दृष्टिगोचर होती है। सामान्यतया यह माना जाता है कि निवृत्ति प्रधान दर्शन व्यक्तिपरक और प्रवृत्ति प्रधान दर्शन समाजपरक होते हैं। जैन धर्म में सामाजिक भावना से परांगमुखता नहीं दिखाई देती है। सम्भवतः यह दर्शन इतना तो अवश्य मानते हैं कि चाहे वैयक्तिक साधना की दृष्टि से एकांगी जीवन लाभप्रद हो सकता है किन्तु उस साधना से प्राप्ति सिद्धि का उपयोग सामाजिक कल्याण की दिशा में होना चाहिए।

महावीर का जीवन स्वयं इस बात का साक्षी है कि वे ज्ञान प्राप्ति के पश्चात जीवनपर्यन्त लोकमंगल के लिये कार्य करते रहे। यद्यपि इन निवृत्तिप्रधान दर्शनों में जो सामाजिक सन्दर्भ उपस्थित हैं, वे थोड़े भिन्न प्रकार के अवश्य हैं। इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें मूलतः सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि का प्रयास परिलक्षित होता है। सामाजिक सन्दर्भ की दृष्टि से इनमें समाज रचना, सामाजिक दायित्वों के निर्वहन की अपेक्षा समाज जीवन को दूषित बनाने वाले तत्त्वों के निरसन पर बल दिया गया है। जैन दर्शन में पंच महाव्रत का सम्बन्ध अनिवार्यतया हमारे सामाजिक जीवन से है।

प्रश्न व्याकरण सूत्र नामक जैन आगम में कहा गया है कि तीर्थंकर का प्रवचन सभी प्राणियों के रक्षण एवं करुणा के लिये है। पांचों महाव्रत सर्वप्रकार से लोकहित के लिये ही प्रतीत होते हैं। (जैन, पृ 10) हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, संग्रह बिल्कुल व्यक्तिगत ही नहीं कहे जा सकते हैं, बल्कि सामाजिक जीवन की दृष्टिवृत्तियाँ हैं। ये सब दूसरों के प्रति हमारे व्यवहार से सम्बन्धित है। हिंसा का अर्थ है किसी अन्य का हिंसा, असत्य का मतलब है किसी अन्य को गलत

जानकारी देना, चोरी का अर्थ किसी अन्य की सम्पत्ति का अपहरण करना, व्यभिचार का मतलब है सामाजिक मान्यताओं के विरुद्ध यौन सम्बन्ध स्थापित करना, इसी प्रकार संग्रह या परिग्रह का अर्थ है समाज में आर्थिक विषमता पैदा करना। क्या सामाजिक जीवन के अभाव में इनका कोई अर्थ या सन्दर्भ रह जाता है? अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की जो मर्यादा जैन दर्शन ने दी है वह हमारे सामाजिक जीवन की शुद्धि के लिये ही है।

इसी प्रकार जैन दर्शन की साधना पद्धति में समान रूप से मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावनाओं के आधार पर भी सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट किया जा सकता है। जैनाचार्य अमितगति इन भावनाओं की अभिव्यक्ति निम्न शब्दों में करते हैं—

सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, विलष्टेषु जीवेषु पापरत्वम्।

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विद्धातु देव॥ (प्रश्न व्याकरण, 1/1/21-22)

हे प्रभु! हमारे मन में प्राणियों के प्रति मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद, दुखियों के प्रति करुणा तथा दुष्टजनों के प्रति मध्यस्थ भाव सदा विद्यमान रहे।" इस प्रकार इन भावनाओं के माध्यम से समाज के विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों से हमारे सम्बन्ध किस प्रकार हैं, यही स्पष्ट किया गया है। जैन दर्शन में भी प्रेम और करुणा की धारा है। तीर्थंकर की वाणी की प्रस्फुटन ही लोक करुणा के लिये होता है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं—“हे प्रभु! आपका अनुशासन सभी दुःखों का अन्त करने वाला और सभी का कल्याण करने वाला है। जैन आगमों में प्रस्तुत कुल धर्म, ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म एवं गण धर्म भी उसकी समाज सापेक्षता को स्पष्ट करता है।

पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन में हमारे पारस्परिक सम्बन्धों को सुमधुर एवं समायोजनपूर्ण बनाने तथा सामाजिक टकराव के कारणों का विश्लेषण कर उन्हें दूर करने के लिये जैन धर्म का महत्वपूर्ण योगदान प्रतीत होता है। वस्तुतः जैन दर्शन में आचार शुद्धि पर बल देकर व्यक्ति सुधार के माध्यम से समाज सुधार का मार्ग प्रशस्त किया गया। इन्होंने व्यक्ति को समाज का केन्द्र माना और उसके चरित्र के निर्माण पर बल दिया। वस्तुतः जैन दर्शन के युग तक समाज रचना का कार्य लगता है, पूर्ण हो चुका था। अतः इन्होंने मुख्य रूप से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और सामाजिक सम्बन्धों की शुद्धि पर बल दिया। सम्भवतः जैन धर्म को जिन आधारों पर सामाजिक जीवन से कटा हुआ माना जाता है, उनमें प्रमुख हैं—राग या आसक्ति का प्रहाण, संन्यास या निवृत्ति मार्ग की प्रधानता तथा मोक्ष का प्रत्यय। ये ही ऐसे तत्व हैं जो व्यक्ति को सामाजिक जीवन से अलग करते हैं। अतः भारतीय सन्दर्भ में इन प्रत्ययों की सामाजिक दृष्टि से समीक्षा आवश्यक है।

सर्वप्रथम भारतीय दर्शन (तत्त्वार्थ सूत्र, 5/21) आसक्ति राग या तृष्णा पर बल देता है किन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या आसक्ति या राग से ऊपर उठने पर बात सामाजिक सामाजिक जीवन से अलग करती है। सामाजिक जीवन का आधार पारस्परिक सम्बन्ध है और सामान्यतया यह माना जाता है कि राग से मुक्ति या आसक्ति की समाप्ति तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति अपने को सामाजिक जीवन से अलग कर ले किन्तु वह एक भ्रान्त धारणा ही है, न तो सम्बन्ध तोड़ देने मात्र से राग समाप्त हो जाता है, न राग के अभाव मात्र से सम्बन्ध टूट जाते हैं। वास्तविकता तो यह है कि राग या आसक्ति की उपस्थिति में हमारे यथार्थ सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं बन पाते।

सामाजिक जीवन एवं सामाजिक सम्बन्धों की विषमता के मूल में व्यक्ति की राग भावना कार्य करती है। सामान्यतया राग—द्वेष के आधार पर जो सम्बन्ध खड़े होते हैं उनमें टकराहट एवं विषमता स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है। भारतीय दर्शन में राग या आसक्ति के निवृत्ति पर बल देकर सामाजिकता की एक यथार्थ दृष्टि ही प्रदान की है। प्रथम तो यह कि राग किसी पर होता है तो किसी पर होता है वह सब पर नहीं हो सकता। अतः राग से ऊपर उठे बिना या आसक्ति को छोड़े बिना सामाजिकता की सच्ची भूमिका प्राप्त नहीं की जा सकती। सामाजिक जीवन की विषमताओं का मूल 'स्व' की संकुचित सीमा ही है। व्यक्ति जिसे अपना मानता है उसके हित की कामना करता है और जिसे पराया मानता है उसके हित की उपेक्षा करता है। सामाजिक जीवन में शोषण, क्रूर व्यवहार, घृणा आदि सभी उन्हीं के प्रति किये जाते हैं जिन्हें हम अपना नहीं मानते हैं।

यद्यपि यह बड़ा कठिन कार्य है कि हम अपनी रागात्मकता या ममत्व वृत्ति का पूर्णतया विसर्जन कर सकें किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि बिना एक सीमा तक उसका विसर्जन किये अपेक्षित सामाजिक जीवन का विकास नहीं हो सकता। स्वहित की वृत्ति चाहे वह अपने प्रति हो, परिवार के प्रति हो या राष्ट्र के प्रति हो समान रूप से सामाजिकता की विरोधी सिद्ध होगी। जिस प्रकार परिवार के प्रति ममत्व का सघन रूप हममें राष्ट्रीय चेतना का विकास नहीं कर सकता उसी प्रकार राष्ट्रीयता के प्रति ममत्व सच्ची मानवीय एकता में सहायक सिद्ध नहीं हो सकती। समाज त्याग एवं समर्पण के आधार पर ही खड़ा होता है। (पाण्डेय, पृ38) अतः वीतराग या अनासक्त दृष्टि ही सामाजिक जीवन के लिये वास्तविक आधार प्रस्तुत कर सकती है और सम्पूर्ण मानव जाति में सुमधुर सामाजिक सम्बन्धों का आधार प्रस्तुत कर सकती है।

यदि सामाजिक सम्बन्धों में उपस्थित होने वाली विषमता या टकराहट के कारणों का विश्लेषण करें तो उसके मूल में हमारी आसक्ति या रागात्मकता ही प्रमुख है। आसक्ति ममत्व भाव या राग के कारण ही मनुष्य में संग्रह, आवेश और कपटाचार के तत्व जन्म लेते हैं। अतः यह कहना उचित होगा कि जैन दर्शन या आसक्ति के प्रहारण पर बल देकर सामाजिक विषमताओं को समाप्त करने एवं सामाजिक महत्व की स्थापना करने में महत्वपूर्ण योग दिया है। समाज त्याग एवं समर्पण पर खड़ा होता है, जीता है और विकसित होता है।

सन्दर्भ :

जैन, सागरमल: *जैन, बौद्ध और गीता का समाज दर्शन*,

प्रश्न व्याकरण, 1/1/21-22.

सामयिक पाठक (अमित गति)

तत्त्वार्थ सूत्र, 5/21.

पाण्डेय, संगम लाल: *नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण*,